13 ओह! पंचायत : सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें तैयार करने में मिले कुछ बिखरे सबक[1]

अलक्स एम. जॉर्ज

शिक्षा के समाजशास्त्र – एक ऐसा विषयक्षेत्र, जो लगता है कि मेरे पेशे का मुख्य कार्यक्षेत्र रहा है – के सम्बन्ध में शैक्षिक आलोचक पाठ्यपुस्तकों के बारे में जो बातें कहते हैं वे हमेशा मेरे दिमाग में कहीं रहती हैं। वे कहा करते हैं कि पाठ्यपुस्तकें:

- राज्य का एक ऐसा साधन जिसके द्वारा वह शिक्षक और उसके विद्यार्थियों के बीच होने वाली अन्तर्क्रियाओं को नियंत्रित करता है ताकि उसका अस्तित्व स्थायी बना रहे;
- राज्य के हाथों में एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा आधिकारिक ज्ञान का एक ऐसा तानाबाना रच दिया जाता है जिससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि मध्यम वर्ग का अस्तित्व बना रहे;
- बच्चों को शिक्षा से दूर कर देने में सक्षम उपकरण; इत्यादि।

फिर भी, पिछले कई सालों से मैं अध्ययन सामग्री तैयार करने के काम में ही लगा रहा हूँ, जिसमें बार–बार मैंने इन सीमाओं को तोड़कर निकल भागने की कोशिश भी की!

यह लेख स्कूली पाठ्यपुस्तकों के एक पाठ – पंचायत – को तैयार करने (अक्सर दूसरों को तैयार करता देखने) से मैंने जो सीखा उसका सार है। दो कारणों की वजह से यह पाठ हाल के समय में मुझे फिर से याद आया, 1. हरियाणा की कुख्यात खाप पंचायतें और 2. कर्नाटक के चुनाव। पर मुझे कहानी शुरू से बताना पड़ेगी...।

मैं मानता हूँ कि मेरे मौजूदा पाठकों में से शायद किसी को भी विस्तार से यह समझाने की जरूरत नहीं है कि पंचायत क्या होती है। पर जल्दी से मैं पंचायत की पाठ्यपुस्तकीय व्याख्या दे दूँ कि ऐसे अध्याय में आपको मिलेगा : पंचायत की रचना, शक्तियों, और कार्यों का वर्णन। इसे आमतौर पर नियमपुस्तिका की बेहद साफ–सुथरी शब्दावली में लिखा जाता है। पिछले कुछ दशकों से बच्चों से मित्रवत व्यवहार के नाम पर, पाठ्यपुस्तकीय वर्णनों को अक्सर उनमें ऐसे किरदारों को लाकर बिगाड़ दिया गया है जो वही की वही जानकारी अक्सर दूसरों पर कृपा करने के भाव के साथ उंडेल देते हैं।[2]

सबक 1 : बुद्ध के हँसने (असल में रोने!) से कुछ दिन पहले

यह फुटबॉल के चौथे विश्वकप के पहले की बात है। बात शुरू होती



है जयपुर के तब के बाहरी इलाके झालना डूँगरी में एक अतिथिगृह के पास एक ढाबे पर गरमागरम मसालेदार चाय का इन्तजार करते हुए। मुझे अभी भी पक्की तरह से यह अहसास नहीं हो पा रहा था कि मैं कक्षा 6 हिन्दी माध्यम के लिए एकलव्य की सामाजिक विज्ञान की किताबों में से सही "अर्थों" को समझ रहा था कि नहीं। मैंने अरविन्द के पंचायत अध्याय के वाचन को सुना। यह सम्भवतः पाँचवी मर्तबा था कि हमने यह अध्याय मिलकर पढ़ा था। और तब भी मैं आश्वस्त नहीं हो पाया क्योंकि पंचायत के तमाम कार्यों के आलोचनात्मक मूल्यांकन के बावजूद वह अध्याय "और फिर वे लोग हमेशा खुशी–खुशी जीते रहे" जैसी भावना के साथ समाप्त हो रहा था।

इस अध्याय का मुख्य कथानक एक स्त्री द्वारा उसकी कॉलोनी के निकट हैंडपम्प हेतु गड्ढा खुदवाने के लिए की गई जद्दोजेहद है। एकलव्य की पाठ्यपुस्तकों और सामान्य पाठ्यपुस्तकों के मौलिक भेदों में से एक यह है कि जहाँ सामान्य पाठ्यपुस्तकों में संस्थाओं के कार्यों और शक्तियों का अपेक्षा के मुताबिक 'पाठ्यपुस्तकीय' ढंग से वर्णन किया जाता है, वहीं इस अध्याय में संस्थाओं की अक्रियाशीलता को दर्शाया गया है और यह भी बताया गया है कि किस तरह से निर्णय प्रक्रियाओं में गाँवों की राजनीति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, भ्रष्टाचार कितना बढ़ गया है, इत्यादि। फिर वास्तविक जीवन के इन चित्रणों का उपयोग आलोचनात्मक सोच विकसित करने के लिए किया गया है, एक ऐसा तत्व जो भारतीय सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तकों में नदारद था।

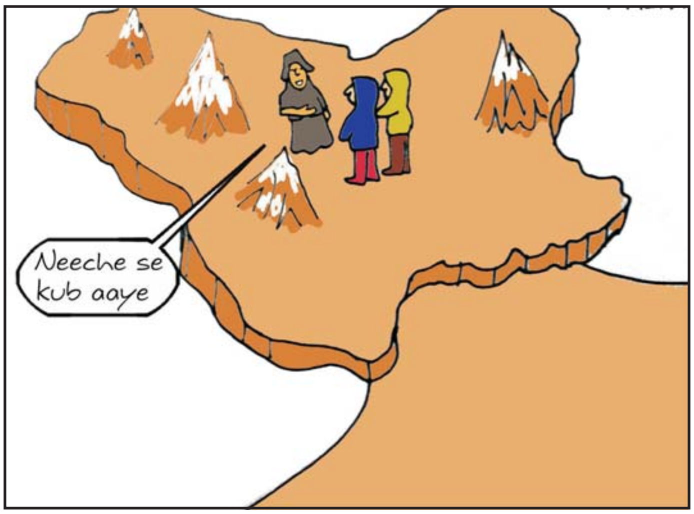
इसके बाद मैंने महमूद और सुधीर के साथ चर्चाएँ शुरू कीं। सन्दर्भ था कि राजस्थानी खुद को मध्य प्रदेश की तुलना में ज्यादा 'प्रगतिशील' मानते हैं; वहाँ का राजनैतिक परिदृश्य बहुत अलग था, क्योंकि नियम–कायदे एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न–भिन्न हो जाते हैं। इस परिस्थिति के बावजूद मेरी नई–नई सीखी हुई हिन्दी शब्दावली को सुधारते हुए, वे लोग बार–बार इस बात पर जोर देते कि मैं देवास "टेकरी" की तराई में नहीं रहता था, जैसा कि मध्यप्रदेश वाले उसे कहते हैं, बल्कि असल में वह "डूँगरी" है, जैसा कि राजस्थानी लोग उसे कहते हैं। और मैं सोच में पड़ गया कि स्थानीय तड़का डालने से किस हद तक बच्चा पाठ्यपुस्तकों से जुड़ा महसूस करेगा। हालाँकि पाठ्यपुस्तकों में समीक्षात्मक सोच

पर सामान्यतया काफी जोर दिया जाता है, जैसा कि केरल राज्य की पाठ्यपुस्तकों के लिए मिले मेरे पिछले कार्य में हुआ, पर किसी के पास इतनी हिम्मत नहीं होगी कि राजनैतिक संस्थाओं के वर्णन को नकारात्मक ढंग से खत्म करे। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि पाठ्यपुस्तकों में राजनैतिक दुनिया की वास्तविक घटनाओं को कक्षा में ''ले आने'' की क्षमता होती है?क्या इतना भरोसा रखना सम्भव नहीं है कि बच्चे पंचायत की कहानी को बहुत सकारात्मक ढंग से खत्म करने वाले अनपेक्षित सकारात्मक मोड़ के रहस्य को सुलझा लेंगे? हम किस तरह से स्कूली पाठ्यपुस्तकों में समीक्षात्मक सोच के लिए दी गई जगह के महत्व का समालोचनात्मक ढंग से मूल्यांकन कर सकेंगे?

पर फिर एक दिन भारत सरकार ने पोखरन 2 करने का निर्णय लिया, और धीरे–धीरे लोक जुम्बिश[3] को समेट दिया गया। और अब राजस्थान की मौजूदा पाठ्यपुस्तकें तो अस्पष्ट रूप से भी इसका कोई संकेत नहीं देतीं कि सुधार के कोई प्रयास हुए भी थे।

सबक 2 : क्या यह नीचे के लोगों का उपनिवेशवाद है?

नाम्ग्याल ने हमें गुर–गुर चाय पेश की। फिर उसने पूछा ''आप नीचे से कब आए ?'' कई लद्दाखियों द्वारा यही सवाल पूछे जाने का अनुभव हो चुका होने से हमने जोड़–तोड़ कर उसका उत्तर दिया। इसके बाद नाम्ग्याल सुजाता, विनीता, सुमति और मुझे यात्रा की योजना समझाने लगा। ''दिन में, लगभग 3 घण्टे चलने के बाद आप पहले गाँव पहुँचेंगे, जो कि एक छोटे से सोते के समीप स्थित है। वहाँ 4 घर हैं। आप अपना पैक किया हुआ दिन का भोजन वहाँ कर सकते हैं। फिर आप 4 घण्टे और चलकर दूसरे गाँव पहुँच जाएँगे। वहाँ 7 घर हैं। वे लोग आपको उनके घरों में ठहरने की जगह दे देंगे। अगले दिन करीब 4 या 5 घण्टे चलने के बाद आप उस दिन के पहले गाँव पहुँचेंगे, वहाँ एक ही घर है...।'' यह वर्णन इसी तरह चलता गया कि किस तरह से और किन–किन पड़ावों से गुजरकर हम अपने गंतव्य स्थान, लद्दाख के हिमतेंदुआ रिजर्व में दाखिल हो सकते थे। मेरे लिए मुद्दा यह नहीं था कि हम पहाड़ों पर इतना पैदल चल पाते या नहीं, बल्कि मेरे दिमाग में तो अभी भी पंचायत वाला अध्याय घूम रहा था। इतने कम घर होने पर वार्ड कैसे बन सकते हैं?पंचायत के अन्तर्गत आखिर कितना बड़ा क्षेत्र आएगा?पंचायतों की मेरी छवियाँ तो ऐसे गाँवों पर आधारित थीं जिनमें हजारों या कम से कम कई सौ लोग निवास करते थे! अतः मुझे अपनी काफी कुछ जानकारी को भूलने की जरूरत थी।



आपका ध्यान कक्षा 4 और 5 की पाठ्यपुस्तकों के उन नए सैटों पर जाता है जो 2003 में सैक्मोल (SECMOL) द्वारा निकाला गया था। इन्हें लद्दाख क्षेत्र में इस्तेमाल किया जाना था, जिसका अपने सामाजिक सम्बन्धों को संगठित करने का हमेशा से एक खास व अनोखा ढंग रहा था। पाठ्यपुस्तकें गोबा, लोरपा, चुरपोन आदि की पारम्पारिक सामाजिक भूमिकाओं के बारे में बताकर बच्चों को पंचायत से परिचित करवाती हैं। लोरपा का काम यह सुनिश्चित करना होता था कि दूसरे लोगों के खेतों में घुस जाने वाले जानवरों को जब्त किया जाए; चुरपोन यह निर्णय लेता था कि किस खेत में किस दिन और कितनी बार पानी दिया जाएगा; और गोबा ग्राम प्रमुख हुआ करता था। पर राज्य के आधुनिक ढाँचे में पंचायत के भीतर विभिन्न पदों के लिए अब इन लद्दाखी शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। अब वे ''नीचे'' से आयातित शब्द जैसे 'सरपंच', 'पंचायत' आदि का प्रयोग करने लगे हैं। और हाशिये में हम यह लिखने पर मजबूर हो जाते हैं कि 'क्या ये पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से किए जा रहे सांस्कृतिक औपनिवेशीकरण के लम्बे हाथ तो नहीं हैं?'

लेकिन दो प्रश्न अभी भी अनसुलझे हैं। आखिर बच्चों की किताबों में क्यों पंचायत को लद्दाख के गाँवों का स्थानीय प्रशासन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली संस्था के रूप में दर्शाया जाए? उत्तरपूर्वी राज्यों के कई जिलों की तरह लद्दाख का प्रशासन भी एक स्वायत्तशासी परिषद के हाथों में है। अतः यह एकदम स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम को मुख्य रूप से ''नीचे के लोगों'' द्वारा तय किया जाता है, जो स्वायत्तशासी परिषद जैसी उन संस्थाओं से अपरिचित हैं जो देश के प्रधान रूप से जनजातीय प्रभुत्व वाले जिलों का संचालन करती हैं। ''नीचे के लोगों'' की पाठ्यपुस्तकों में हमें स्वायत्तशासी परिषदों के अस्तित्व की बात ही सुनने को नहीं मिलती। और जब सरकार के त्रि–स्तरीय ढाँचे की बात होती है तो क्या उसमें स्वायत्तशासी परिषदें सिर्फ एक अजीब विसंगति मात्र हैं? या क्या यह राज्य व्यवस्था का वह रवैया दर्शाता है जो जनजातीय समुदायों को हाशिये पर रहने वाले महत्वहीन समुदाय मानता है? इसलिए क्या इससे साफ जाहिर नहीं हो जाता कि यहाँ पढ़ाने योग्य चीजों को चुनने के लिए प्राथमिकता का पैमाना ही आड़ा–तिरछा है? या क्या अन्य प्रशासनिक ढाँचों, कुछ निश्चित संस्थाओं और लोगों की

मौजूदगी को नकारकर भारतीय राज्य इन लोगों को हाशिये पर ही रखना चाहता है? बड़ी विडम्बनापूर्ण बात है कि आखिर क्यों एक राज्य जो पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान के माध्यम से अपने अस्तित्व को मजबूत बनाए रखना चाहता है, ऐसी संस्थाओं के अस्तित्व को नष्ट करता है, उसे टाल देता है और अनदेखा कर देता है?

एक अन्य प्रमुख दुविधा अतीत की यादों से उत्पन्न होती है। 'नीचे के लोगों' की पाठ्यपुस्तकों में पंचायत के वर्णन को इस तरह से प्रारम्भ करना बहुत प्रचलित है – 'पंच अर्थात पाँच, प्राचीन समय में हमारे गाँवों का प्रशासन पाँच बुद्धिमान लोगों के हाथों में होता था..।' एक आधुनिक संस्था को मान्यता दिलवाने के लिए हम अतीत की याद दिलाने लगते हैं। पाठ्यपुस्तकों में तो चीजों को बस बड़ी सरलता से लिख दिया जाता है कि 'पर उन दिनों में महिलाओं की बहुत अधिक भूमिका नहीं होती थी, और देखिए अब ''हमने'' इस चीज को सही कर दिया है।' पर पंचायत की चर्चा के सिलसिले में कभी–कभार किसी का ऐसा कह देना, 'क्या वैसी जैसी हरियाणा की खाप पंचायतें', अतीत की इन मधुर स्मृतियों को पंचर कर देता है और एकदम से आपके सामने उस जमाने से चली आ रही सामन्तवादी हकीकतें उजागर हो जाती हैं। अर्थात सामन्तवाद की प्रतिनिधित्व विहीन और अलोकतांत्रिक प्रकृति हमारे सामने आ जाती है। पर सोचने लायक सवाल यह है कि किसी 9 या 10 साल के बच्चे के लिए कथित रूप से किसी प्राचीन या आधुनिक संस्था को समझ पाने का क्या मतलब है? क्या यह मानना वाकई सम्भव है कि एक 10 वर्षीय बच्चा पाठ्यपुस्तकों के उदाहरणों द्वारा यह भेद दर्शाए जाने पर, कि तुम्हारे पिता खाप प्रमुख हैं और तुम्हारे पड़ोसी ग्राम पंचायत सदस्य हैं, इनके अलग–अलग अर्थों को समझ पाएगा?

सबक 3 : अकस्मात ही ब्रम्हपुत्र के पार जाना..

एक बार, अरविंद मुझे गुवाहाटी ले गया; वहाँ कक्षा 5 में पढ़ाई जा रही एक किताब पर तीन–दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया था। एक तरह से, मैंने यह आशा की थी कि फिर कभी मेरा पंचायतों से कोई वास्ता नहीं पड़ेगा। पर इससे भी ज्यादा उत्सुकता वाली एक और बात थी। मैंने कभी सोचा नहीं था कि ब्रम्हपुत्र के किनारों पर पानी के मुद्दे पर परिचर्चाएँ होंगी, क्योंकि इस राज्य के बारे में मेरा पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान इसी तथ्य तक सीमित था कि वहाँ देश में सबसे ज्यादा बारिश होती है! मैं तो पानी को मध्यप्रदेश या राजस्थान की समस्या के रूप में देखता था। लेकिन वहाँ यह तय किया गया कि इस अध्याय में साझा प्राकृतिक संसाधनों की चर्चा की जा सकती है। और ऐसे संसाधनों में से तालाबों (पानी!) को सबसे महत्वपूर्ण माना गया। जहाँ राजस्थान और मध्यप्रदेश की पाठ्यपुस्तकों में यह चर्चा की जाती है कि किसी कार्यक्रम को लागू करने के लिये कौन सी कॉलोनी को किस तरह चुना जाए, वहीं असम के लिए तालाबों के रखरखाव व उनकी सुरक्षा से जुड़ा विषय महत्वपूर्ण था। इसलिए, यह तय किया कि स्कूल आने वाले बच्चों के दैनिक अनुभवों में आने वाली जरूरत से जोड़कर उन्हें पंचायतों की धारणा/भूमिका का महत्व समझाया जा सकता था। पर इस साझी समस्या के अलावा मैं एक नए सबक के बारे में भी बताना चाहूँगा।

> *इसी प्रकार, सामाजिक विज्ञान एक ऐसा विषय है जिसपर नागरिकों और पाठकों (इस मामले में बच्चे) को भविष्य के मतदाता के तौर पर तैयार करने का बोझ होता है. ध्यान दें 'मतदाता', न कि 'जुझारु व्यक्ति' या 'लड़ाकू महिला प्रतिनिधि'। क्या यहीं पर मध्यमवर्गीय मूल्यों का इस धारणा से टकराव होता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य का अस्तित्व जस का तस बना रहता है?*

आपने ध्यान दिया होगा कि तीनों कड़ियों में पंचायत के अध्याय पर कक्षा 4, कक्षा 5 व कक्षा 6 में चर्चा की जा रही है। क्या आपने सोचा कि इसका क्या औचित्य है? यह बात अंशतः शैक्षिक ढाँचे के उन पेचीदा अनुक्रमों से उभरकर आती है जो हमारे देश के विभिन्न भागों में प्रचलित हैं। तथाकथित राष्ट्रीय पाठ्यक्रम (जैसे कि सीबीएसई और आईएसई) और कई हिंदीभाषी क्षेत्र कक्षा 6 से 8 को माध्यमिक स्कूल के रूप में परिभाषित करते हैं। जबकि देश की परिधि पर स्थित अधिकांश राज्यों में माध्यमिक स्कूल कक्षा 5 से 7 को माना जाता है। इन राज्यों में अक्सर राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचने या 'उसके जैसा होने' की आकांक्षा देखने को मिलती है (हालाँकि, राष्ट्रीय स्तर के संभ्रांत राज्यों/लोगों की सोच पहले ही आगे बढ़ चुकी होती है और वे आईबी के बारे में सोचने लगते हैं, जहाँ शायद पंचायतों का कोई अस्तितत्व ही नहीं होता)। क्या यह सम्भव है कि इन स्थितियों में शिक्षा संवर्ती विषय बना रहे जबकि पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, सभी एक राष्ट्रीय प्रतिरूप से बन्धे हुए प्रतीत होते हैं?

और कुछ दिलचस्प शिक्षाशास्त्रीय रिवाजों के चलते प्रशासनिक ढाँचों की चर्चा में ''सर्पिलाकार ढंग से ऊपर चढ़ते हुए'' और ''स्थानीय से दूरवर्ती'' तो जैसे पाठ्यपुस्तकीय लेखकों के नारे ही हो गए हैं। इसलिए राष्ट्रीय स्तर पर पंचायत कक्षा 3 में प्रगट हुई थी (भूतकाल इसलिए क्योंकि अब हम इस दिमागी जिद से छुटकारा पा गए हैं) राज्य सरकार कक्षा 4 में प्रगट हुई थी और केन्द्र सरकार से लेकर संयुक्त राष्ट्र कक्षा 5 में। तथाकथित ''सर्पिलाकार ढंग से ऊपर चढ़ते हुए क्रम'' की दृष्टि इसे कक्षा 6, 7, 8 में ले आई और एक बार फिर स्थानीय सरकारों और राज्य सरकारों को कक्षा 9 व

कक्षा 10 में मिला दिया गया। पर फिर, चूँकि विभिन्न राज्यों की स्कूली व्यवस्थाओं में प्राथमिक स्कूल के खत्म होने और उच्च/माध्यमिक स्कूल के शुरू होने की परिभाषाएँ अलग–अलग थीं, अतः पाठ्यपुस्तकीय विषयवस्तु को अक्सर तोड़ा–मरोड़ा जाता रहा। मुझे यह एहसास हुआ कि यह मनोवैज्ञानिक नियतिवाद–कि एक परिकल्पना या विषयवस्तु को सिर्फ एक खास स्तर पर ही पढ़ाया जा सकता है–एक मिथ्या उद्धात राष्ट्रवादी मान्यता है जिसे व्यवहार में लाना हमें नहीं आता। सर्पिलाकार ढंग से ऊपर चढ़ते हुए क्रम के नाम पर क्या हम बच्चों से सिर्फ पंचायतों के स्वरूप को लेकर वही की वही जानकारी उनके स्कूली जीवन के दौरान 3–3 बार याद करने को नहीं कह रहे थे?

सबक 4 : अपूर्ण अध्याय

इस तथ्य के बावजूद कि अब तक मेरी आधी जिन्दगी मेरे तथाकथित गृहराज्य के बाहर गुजरी है, लोग अब भी मुझसे यह अपेक्षा करते हैं कि मुझे केरल के बारे में बहुत सारी चीजें पता होंगी। स्थिति और भी मुश्किल हो जाती है क्योंकि पाठ्यपुस्तकीय लेखक अक्सर तथाकथित सहभागिता– आधारित लोकतंत्र के बारे में बात करना चाहते हैं जो, यह माना जाता है कि, उस राज्य में व्यावहारिक रूप में मौजूद है। और मेरी जड़ें उन कई गाँवों में से एक – चप्पारापडावु पंचायत – में है, जो इस परिवर्तन का आदर्श प्रतिरूप बन गया था। जिस साल मैंने पाठ्यपुस्तकों और पंचायत का काम करना शुरू किया, वह वही समय था जब तथाकथित सहभागिता–आधारित योजना वहाँ शुरू हुई थी, जो कि लाल लैतिनी अमेरिकी आयात था। तब तक कई राज्य 'नए' सुधार के अन्तर्गत पंचायती राज संस्थाओं को नूतन रूप में सामने ले आए थे और इस प्रकार उन्होंने अनिवार्यतः इस पुराने विचार को फिर से स्थापित किया कि ''लोगों के हाथों में शक्ति'' के विचार को पाठ्यपुस्तकों में भी परिलक्षित होना चाहिए। इसके अलावा, वर्ल्ड बैंक द्वारा सहायता प्राप्त डीपीईपी ने चुनिंदा तौर पर कोठारी आयोग की उस रिपोर्ट का प्रयोग करके देखने पर जोर दिया था जिसमें पंचायती राज संस्था को शिक्षा प्रणाली की समस्याओं के हल के रूप में पेश किया गया था। पूरी चर्चा के दौरान यदा–कदा गाँधी जी की याद को ताजा कर देने के कारण सभी राजनैतिक रंगों वाले लोग पंचायती राज को बढ़ावा देने के लिए प्रस्तुत प्रतीत होने लगे। इन सारी आवाजों के बीच में प्रासंगिक पाठ्यसामग्री का चुनाव किस तरह किया जा सकता है? अक्सर ऐसा क्यों होता है कि वयस्क लोग उन्हें आकर्षक लगने वाले हर नए विचार को खुद तो भूल जाते हैं पर उस नए विचार को बच्चों के लिए उपयोगी व सीखा जाने योग्य मानकर उसे उनपर लाद देते हैं।

इस प्रकार, यह पता लगाना मुश्किल काम है, कि किस प्रकार अध्यायों को पंचायती प्रशिक्षण के लिए बनाई जाने वाली एनजीओ नियमपुस्तिकाएँ बनने से रोका जाए। इसी प्रकार, सामाजिक विज्ञान एक ऐसा विषय है जिसपर नागरिकों और पाठकों (इस मामले में बच्चे) को भविष्य के मतदाता के तौर पर तैयार करने का बोझ होता है . ध्यान दें 'मतदाता', न कि 'जुझारु व्यक्ति' या 'लड़ाकू महिला प्रतिनिधि'। क्या यहीं पर मध्यमवर्गीय मूल्यों का इस धारणा से टकराव होता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य का अस्तित्व जस का तस बना रहता है? लोकतंत्र में सशक्त विश्वास को स्कूली शिक्षा का महत्वपूर्ण, अपरिहार्य अंग माना गया था। अब पीछे देखने पर लगता है कि स्थानीय स्वशासन – सहभागिता–आधारित योजना – में दिखाया गया भरोसा एक बुलबुले जैसा ही था। वर्ल्ड बैंक से निधि प्राप्त करने वाली एसएसए इन्हें त्यागने की प्रक्रिया में है।[4] केरल में वामपंथ चौथी दुनिया के विचार को अपने दिमाग से दूर रखता है। फिर भी, अधिकांश लोग इस बात से सहमत होंगे कि कक्षा 6 सहभागिता–आधारित प्रजातंत्र पर सार्थक चर्चा करने के लिए जरा 'ज्यादा ही छोटी' उम्र होती है। यह तय किया जा सकता है कि ऐसी चर्चाएँ ऊँची कक्षाओं में की जा सकती हैं। और इस प्रकार, पंचायत पर अभी भी कई अपूर्ण अध्याय रह गए हैं, क्योंकि पढ़ाने योग्य समझी जाने वाली बातों को निर्धारित करने में संस्थाओं और प्रशासनिक प्रक्रियाओं का ही बोलबाला है। क्या मैं इसे कभी पूरा कर पाऊँगा?

उपसंहार – किसी भी बात के प्रति कभी आश्वस्त न हों

देश के कई कोनों में कुछ तोड़–मरोड़ कर चुकने के बाद आराम से अपनी आरामकुर्सी पर हाथ में अखबार और कॉफी का प्याला लिए मैं रंजन से दक्षिण कन्नड़ा के एक गाँव में पिछले महीने हुए चुनाव में उसके वोट के बारे में पूछ रहा था। उसने कहा कि उसने अपने वार्ड के लिए 5 सदस्य चुने हैं। वहाँ 14 पंचायत सदस्य और 5 वार्ड हैं। मैं उसकी इस बात का विश्वास नहीं कर पा रहा था। मुझे एहसास हुआ कि एनसीईआरटी की कक्षा 6 की ''नई'' पाठ्यपुस्तक गलत है। मेरे लिए पाठ्यपुस्तकों का लोकतंत्र एक व्यक्ति – एक वोट – एक प्रतिनिधि वाला होता है! पंचायत के चुनाव के सम्बन्ध में पाठ्यपुस्तक के वर्णन कहते हैं कि मतदाता की हैसियत से मैं अपने पंचायत वार्ड के लिए एक प्रतिनिधि चुनता हूँ। पर यह एक ऐसा राज्य है जहाँ बहुसदस्यी चुनाव–क्षेत्र हैं – एक पूरे वार्ड के लिए एक से ज्यादा प्रतिनिधि उत्तरदायी है। मैं तो उससे बहस भी नहीं कर सकता क्योंकि उसने मुझे याद दिलाया कि ''आपने तो सिर्फ कुछ राज्यों की पाठ्यपुस्तकें और नियमपुस्तकें ही देखी हैं जबकि मैंने असली में वोट डाला है''। ओफ्फो! मुझे उसकी बीच की उंगली पर लगी अमिट काली स्याही देखकर कितनी खीझ आ रही थी!

सन्दर्भ

1. इस लेख में कई वास्तविक लोगों का उल्लेख किया गया है, पर यह कोई निष्पक्ष अन्तःप्रेरित प्रक्रिया नहीं है। यह अवचेतन के धुएँ से भरा जैविक जातिगत वर्णन है जो कल्पनामिश्रित स्मृतियों पर निर्भर है। यह सत्य को खोजने वालों के लिए नहीं लिखा गया है, हालाँकि इसमें पेय पदार्थों के नाम ''शैक्षिक शिष्टाचार'' का ख्याल रखते हुए बदल दिए गए हैं। प्रयास किया गया है कि पाठों को विचारणीय प्रश्नों के साथ समाप्त किया जाए। यह उस पारम्परिक भारतीय शैक्षणिक विश्वास के विपरीत है जो यह मानता है कि हर बात एक साफ–सुथरी 'कहानी की सीख' के साथ समाप्त होना चाहिए।
2. यह लेख समाज के कुछ लोगों को हाशिये पर धकेल दिए जाने के स्वरूपों और मुद्दों का उल्लेख नहीं करता। इसके लिए आप इस लिंक पर 'इफ ईव कुड बी स्टीव' शीर्षक का लेख पढ़ सकते हैं : http://expressbuzz.com/magazine/if-eve-could-be-steve/84204.html
3. लोक जुम्बिश 1989 में शुरु हुआ एक आन्दोलन था जिसका मकसद था राजस्थान में ''सभी के लिए शिक्षा'' कार्यक्रम को गतिशीलता प्रदान करना। यह आन्दोलन शिक्षा के लिए सामुदायिक लामबन्दी करने, अध्ययन–अध्यापन प्रक्रिया की गुणवत्ता को सुधारने, सेवारत शिक्षकों को प्रशिक्षित करने, लैंगिक समानता पर जोर देने आदि कामों में शामिल रहा। 1992 में यह एक वृहद–स्तरीय कार्यक्रम बन गया। 1997 में लोक जुम्बिश ने मिडिल स्कूल की कक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तकीय सुधार का कार्य करना शुरू किया था।
4. प्रियंका पाण्डे, संगीता गोयल, वैंकटेश सुन्दररमन द्वारा लिखा गया ईपीडब्ल्यू का लेख ''पब्लिक पार्टिसिपेशन, टीचर एकाउण्टेबिलिटी एण्ड स्कूल आउटकम्स इन थ्री स्टेटस'' पढ़ें। ता. जून 12, 2010, अंक 14, पेज नं 24 75

अलक्स एम. जॉर्ज *इस बात की खैर मनाते हैं कि कभी कोई प्रबन्धकीय कार्य किए बिना केवल शैक्षणिक कार्य करते हुए ही एनजीओ सेक्टर में बचे रह पाए हैं। अब उनका एक धुँधला सा उद्देश्य है कि वे ''एकेडमिक्स'' में आ जाएँ क्योंकि वे ''सभी को शिक्षा देना चाहते हैं''!, प्रतीकात्मक रूप से! खैर, सितम्बर, 2010 से वे फिर से घुमक्कड़ी के एक और दौर में प्रवेश करने जा रहे हैं। उनसे इस* alexmgeorge@gmail.com *ईमेल पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*